४ कर्म का अस्तित्व

□ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

जैनदर्शन या कई अन्य दर्शन आत्मा को अपने शुद्ध मूल स्वभाव की दृष्टि से समान मानते हैं। मूलतः आत्माओं के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु विश्व के विशाल मंच पर सभी धर्मों और दर्शनों के व्यक्तियों से लेकर साधारण जनता तक सभी का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि सभी आत्माएं एक-सी नहीं हैं, एकरूप नहीं हैं। जिधर दृष्टि दौड़ाते हैं, उधर ही विविधता, विचित्रता और विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इन विभिन्नताओं की दृष्टि से ही धर्मशास्त्रों में ४ गतियां और ८४ लाख जीव-योनियां मानी गई हैं। सभी गतियों और योनियों की परिस्थिति भी एक-सी नहीं है। कोई पशु-पक्षी रूप में है तो कोई मनुष्य रूप में है, कोई देवता रूप में है तो कोई नारकजीव के रूप में है। इतना ही नहीं, एक ही तरह के प्राणियों में भी हजारों-लाखों भेद की रेखाएं हैं। एक मनुष्य जाति को ही ले लें; उसमें भी कोई क्रूर है, तो कोई दयालु है, कोई सरलता की मूर्ति है तो कोई कुटिलता की प्रतिमूर्ति, कोई संयमी है तो कोई परले दर्जे का असंयमी; कोई लोभी-लालची है तो कोई सन्तोषी उदार है; कोई राग-द्वेष से अत्यन्त लिप्त है, तो कोई वीतराग है। मनुष्यों में भी शरीर, मन, बुद्धि, धन आदि को लेकर भी असंख्य भिन्नताएं हैं। कोई शरीर से दुबला-पतला है तो कोई हट्टा-कट्टा, मोटा-ताजा, कोई सुन्दर सुरूप है तो कोई काला कुरूप है, कोई जन्म से ही रोगी है, तो कोई बिलकुल स्वस्थ एवं नीरोगी है; किसी का शरीर बिलकुल बेडोल, बौना, अंगहीन है, तो किसी का सुडोल, कदावर एवं पूर्णांग है। कोई अल्पायु है तो कोई चिरायु, कोई रोब वाला है, तो कोई सर्वथा प्रभावहीन। कोई अहंकार का पुतला है तो कोई नम्र एवं निरभिमान। कोई मायावी एवं कपटी है तो दूसरा बिलकुल सरल, निश्छल एवं निष्कपट। कोई दुःख की भट्टी में बुरी तरह तप रहा है, जबकि कोई सुख चैन की बंसी बजा रहा है। कोई निपट मूर्ख, निरक्षर भट्टाचार्य है, तो कोई बुद्धिमान और प्रतिभाशाली है। किसी के पास धन का ढेर लगा हुआ है तो कोई पैसे-पैसे के लिए मुहताज हो रहा है। कोई छोटा है तो कोई बड़ा। कोई बालक है, कोई युवक है, कोई वृद्ध है।

प्रश्न है कि यह विभिन्नता क्यों? 'एगे आया'[1] (आत्मा समान है) के

---

१. स्थानांग सूत्र सू० १।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रानुसार आत्मा जब आत्मा है तो उसका रूप एक-सा होना चाहिए। इतनी विरूपता और विचित्रता क्यों ? एक ही तत्त्व में दो विरोधी रूप नहीं होने चाहिए। यदि हैं तो उनमें से कोई एक ही रूप मौलिक एवं वास्तविक होना चाहिए। दोनों तो वास्तविक एवं मौलिक नहीं हो सकते। अत: आत्मा के किस रूप को वास्तविक माना जाए ? अन्धकार और प्रकाश दोनों एक नहीं हो सकते।

इसका समाधान जैनदर्शन ने इस प्रकार किया है—आत्माओं की यह विभिन्नता, विविधता या विरूपता उनकी अपनी नहीं है, स्वरूपगत नहीं है। आत्मा तो शुद्ध सोना है। मूलत: उसमें कोई भेद नहीं है, किसी भी प्रकार की विविधता या विरूपता नहीं है। जो आत्मा का स्वरूप निगोद के जीव में है, वही स्वरूप नारकी, तिर्यंचों, देवों और मनुष्यों की आत्मा का है, वही स्वरूप मोक्षगत मुक्त आत्माओं का है, इसमें तिलमात्र भी भेद नहीं है। अध्यात्म जगत् के विश्लेषणकार जैन कवि द्यानतरायजी कह रहे हैं :—

जो निगोद में सो मुझ मांही, सोई है शिवथाना ।
'द्यानत' निहचे रंचभेद नहीं, जाने सो मतिवाना ।।
आपा प्रभु जाना, मैं जाना ।

अत: यह निश्चित सिद्धान्त है कि द्रव्य दृष्टि से, अर्थात् अपने मूल स्वरूप से सभी आत्माएं शुद्ध हैं,[१] एक स्वरूप हैं,[२] अशुद्ध कोई नहीं है। जो अशुद्धता है, विरूपता है, भेद है, विभिन्नता है, वह सब विभाव से—पर्याय दृष्टि से है। जिस प्रकार जल में उष्णता बाहर के तेजस् पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, सुख-दु:ख आदि की विरूपता-विभिन्नता बाहर से आती है, अन्दर से नहीं। अन्दर में हर आत्मा में चैतन्य का प्रकाश जगमगा रहा है।

प्रश्न होता है, आत्माओं में विभिन्नता, विरूपता या अशुद्धि अहेतुक या आकस्मिक है या सहेतुक-सकारणक ? यदि अशुद्धता को अहेतुक माना जाए तो फिर वह कभी दूर नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह फिर सदा के लिए रहेगी। ऐसी स्थिति में आत्मा में सुषुप्त परमात्म तत्त्व को जगाने, आत्मा के अनन्त प्रकाश को आवृत्त करने वाले आवरणों से मुक्ति पाने की साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिए जल में आई हुई उष्णता की तरह आत्मा में आई हुई अशुद्धता सहेतुक है, अहेतुक नहीं।

---

१. सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'—द्रव्य संग्रह।

२. एगे आया—स्थानांग सू० १।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस दृश्यमान विश्व में दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं—चेतन (जीव) और अचेतन (जड़ या अजीव)। दोनों के गुण-धर्म, अस्तित्व और क्रियाएं पृथक्-पृथक् हैं। तब फिर इनमें विकार, विभिन्नता और अशुद्धता दिखने का क्या कारण है ? कारण है—विजातीय पदार्थ का संयोग।

प्रत्येक पदार्थ के समान गुण-धर्म, निजी स्वभाव तथा उससे मेल खाने वाली क्रिया से सम्बन्धित पदार्थ सजातीय कहलाता है। तथा उस पदार्थ के स्वभाव, गुण धर्म तथा क्रिया से विपरीत स्वभाव, गुणधर्म या क्रिया वाला पदार्थ कहलाता है—विजातीय। सजातीय पदार्थों के संयोग से विकार पैदा नहीं होता, विकार पैदा होता है—सजातीय के साथ विजातीय पदार्थों के संयोग के कारण। जीव के लिए अजीव विजातीय पदार्थ है। जब जीव के साथ अजीव का संयोग होता है तो जीव (आत्मा) में विकार उत्पन्न होता है। निष्कर्ष यह है—कर्म नाम का यह अजीव ही एक विजातीय पदार्थ है, जो आत्माओं की शुद्धता को भंग करके उनकी स्थिति में भेद डालता है, विरूपता या विभिन्नता पैदा करता है। जैसे सौ टंची सोना शुद्ध है, सभी सोना स्वर्ण दृष्टि से समान है, लेकिन उसमें विजातीय तत्त्व 'खोट' मिल जाने पर विविधता या विरूपता पैदा हो जाती है। इसी प्रकार शुद्ध आत्माओं के साथ कर्म नामक विजातीय अजीव पुद्गल मिल जाने से आत्माओं में विरूपता या विभिन्नता पैदा हो जाती है। विश्व की आत्माओं (जीवों) में अशुद्धता, विभिन्नता या विषमताओं का भी एक बीज है—विजातीय कारण है—जिसका स्वभाव आत्मा से अलग है, वह बीज (कारण) है—कर्म। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—

'कम्मुणा उवाही जायइ'।[1]

कर्म बीज के कारण ही जीवों की नाना उपाधियां हैं, विविध अवस्थाएं हैं।

आत्मा की विभिन्न सांसारिक परिणतियों—अवस्थाओं के लिए सभी आत्मवादी दार्शनिकों ने कर्म को ही कारण माना है।

भगवती सूत्र में भगवान् महावीर ने इस प्रश्न का इसी प्रकार का उत्तर दिया है :—

'कम्मओणं भंते ! जीवे, नो-अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई ?
कम्मओणं, जओ णो अकम्म ओ विभत्तिभावं परिणमई।[2]

---

१. आचारांग सूत्र १।३।१।
२. भगवती सूत्र १२।५।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक जीव के सुख:दुःख तथा तत्सम्बन्धी नानाविध स्थितियां क्या कर्म की विविधता-विचित्रता पर अवलम्बित हैं, अकर्म पर तो नहीं हैं ? गौतम ! समस्त संसारी जीवों के कर्मबीज भिन्न-भिन्न होने के कारण ही उनकी स्थिति और दशा में अन्तर है, विभिन्नता है, अकर्म के कारण नहीं ।

आचार्य देवेन्द्र सूरि इसे और अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं :—

'क्ष्माभृद्रंकयोर्मनीषिजडयोः सद्रूप-निरूपयोः,
श्रीमद् - दुर्गतयोर्बलाबलवतार्नीरोगरोगार्त्तयोः ।
सौभाग्याऽसुभगत्वसंगमजुषोस्तुल्येऽति नृत्वेऽन्तरं,
यत्तत्कर्मनिबन्धनं तदपि नो जीव विना युक्तिमत् ।।'[1]

राजा-रंक, बुद्धिमान-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, सबल-निर्बल, रोगी-निरोगी, भाग्यशाली-अभागा, इन सब में मनुष्यत्व समान होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह सब कर्मकृत है और वह कर्म जीव (आत्मा) के बिना हो नहीं सकता । कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

कई लोग, जिनमें मुख्य रूप से नास्तिक, चार्वाक आदि हैं, कहते हैं— कर्म सिद्धान्त को मानने की क्या आवश्यकता है, इसी लोक में पांच भूतों के संयोग से अच्छा-बुरा जो कुछ मिलता है, मिल जाता है, इससे आगे कुछ नहीं होता, शरीर जलकर यहीं खाक हो जाता है, फिर कहीं आना है, न जाना है । परन्तु चार्वाक के इस कथन का खण्डन इस बात से हो जाता है । एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुए भी अन्तर क्यों दिखाई देता है ? इसी प्रकार एक ही माता-पिता के दो, एक साथ उत्पन्न हुए बालकों में साधन और पंचभूत एक से होने पर भी उनकी बुद्धि, शक्ति आदि में अन्तर पाया जाता है, इस अन्तर का कारण कर्म को— पूर्वकृत कर्म को माने बिना कोई चारा नहीं । यही बात जिन भद्र गणि क्षमा-श्रमण कर रहे हैं—

जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं ।
कज्जतणओ गोयमा ! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ।।[2]

एक सरीखे साधन होने पर भी फल (परिणाम) में जो तारतम्य या अन्तर मानव जगत में दिखाई दे रहा है, बिना कारण के नहीं हो सकता । जैसे

---

१. कर्मग्रंथ, प्रथम टीका ।
२. विशेषावश्यक भाष्य ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में विभिन्नता पाई जाती है, वैसे ही एक सरीखे साधन होने पर भी मानवों में जो अन्तर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए, गौतम ! विविधता का वह कारण कर्म ही है।

पंचाध्यायी में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है—

एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मण: ।[1]

कर्म की सिद्धि में यही अकाट्य प्रमाण है—इस संसार में कोई दरिद्र है तो कोई धनी (यह कर्म के ही कारण है) ।

आत्मा को मणि की उपमा देते हुए तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में इसी तथ्य का उद्घाटन किया गया है—

'मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथानेकविचेक्ष्यते ।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत् योग्यता विविधा न किम् !'[2]

जिस प्रकार मल से आवृत्त मणि की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है, उसी प्रकार कर्म-मल से आवृत्त आत्मा की विविध अवस्थाएँ या योग्यताएं दृष्टिगोचर होती हैं।

दूसरी बात यह है कि अगर कर्म को नहीं माना जाएगा तो जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित नहीं हो सकेगा। अगर संसारी आत्मा के साथ कर्म नाम की किसी चीज का संयोग नहीं है, और सभी आत्माएं समान हैं, तब तो सबका शरीरादि एक सरीखा होना चाहिए, सबको मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा भौतिक सम्पदाएं एवं वातावरण आदि एक सरीखे मिलने चाहिए, परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं होता, इसलिए कर्म को उसका कारण मानना अनिवार्य है। इसी दृष्टि से 'आचारांग सूत्र' में आत्मा को मानने वाले के लिए तीन बातें और मानना आवश्यक बताया है—

'से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी'[3]

जो आत्मवादी (आत्मा को जानने-मानने वाला) होता है वह लोकवादी (इहलोक-परलोक आदि मानने वाला) अवश्य होता है। जो लोकवादी होता है, उसे शुभ-अशुभ कर्म को अवश्य मानना होता है, इसलिए वह कर्मवादी अवश्य

---

१. पंचाध्यायी २।५० ।

२. तत्त्वार्थ श्लोक वा० १९१ ।

३. आचारांग सूत्र १, सूत्र ३ ।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

होता है और जो कर्मवादी होता है, उसे क्रियावादी अवश्य ही होना पड़ता है, क्योंकि क्रिया से कर्म होते हैं।

आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं, गतियों और योनियों को तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी कई घटनाओं को देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि कर्मत्व को माने बिना ये सब सिद्ध नहीं होते।

माता के गर्भ में आने से लेकर जन्म होने तक बालक को जो दुःख भोगने पड़ते हैं, उन्हें बालक के इस जन्म के कर्मफल तो नहीं कह सकते, क्योंकि गर्भावस्था में तो बालक ने कोई भी अच्छा या बुरा काम नहीं किया है और न ही उन दुःखों को माता-पिता के कर्मों का फल कह सकते हैं, क्योंकि माता-पिता जो भी अच्छे-बुरे कार्य करें, उसका फल बालक को अकारण ही क्यों भोगना पड़े ? और बालक जो भी दुःख गर्भावस्था में भोगता है, उसे अकारण मानना तो न्यायोचित नहीं है, कारण के बिना कोई भी कार्य हो नहीं सकता, यह अकाट्य सिद्धान्त है। यदि यों कहा जाए कि गर्भावस्था में ही माता-पिता के आचार-विचार, आहार-विहार और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव बालक पर पड़ने लगता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि बालक को ऐसे माता-पिता क्यों मिले ? अन्ततोगत्वा, इसका उत्तर यही होगा कि गर्भस्थ शिशु के पूर्वजन्मकृत जैसे कर्म थे, तदनुसार उसे वैसे माता-पिता, सुख-दुःख एवं अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले।

कई बार यह देखने में आता है कि माता-पिता बिलकुल अनपढ़ हैं, और उनका बालक प्रतिभाशाली विद्वान् है। बालक का शरीर तो माता-पिता के रज-वीर्य से बना है, फिर उनमें अविद्यमान ज्ञानतंतु बालक के मस्तिष्क में आए कहां से ? कहीं-कहीं इससे बिलकुल विपरीत देखा जाता है कि माता-पिता की योग्यता बहुत ही बढ़ी-चढ़ी है, लेकिन उनका लड़का हजार प्रयत्न करने पर भी विद्वान् एवं योग्य न बन सका, मूर्खराज ही रहा। कहीं-कहीं माता-पिता की सी ज्ञानशक्ति बालक में देखी जाती है। एक छात्रावास में एक ही कक्षा के छात्रों को एक-सी साधन-सुविधा, देखरेख, परिस्थिति और अध्यापक मंडली मिलने पर तथा समय भी एक-सरीखा मिलने पर कई छात्रों की बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा-शक्ति और स्फुरणा गजब की होती है, जबकि कई छात्र मन्द बुद्धि, पढ़ने में सुस्त, बौद्धिक क्षमता में बहुत कमजोर होते हैं। इसके अतिरिक्त एक-एक साथ जन्मे हुए दो बालकों की एक-सी परवरिश एवं देखभाल होने पर भी समान नहीं होते। एक स्थूल बुद्धि एवं साधारण-सा रहता है, दूसरा विलक्षण, कुशल और योग्य बन जाता है, एक का रोग से पीछा नहीं छूटता, दूसरा मस्त पहलवान-सा है। एक दीर्घायु बनता है, जबकि दूसरा असमय में ही मौत का मेहमान बन जाता है। यह तो इतिहासविद् जानते हैं कि जितनी शक्ति

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि में थी, उतनी उनकी सन्तानों में नहीं थी। जो बौद्धिक शक्ति हेमचन्द्राचार्य में थी, वह उनके माता-पिता में नहीं थी। कर्म सिद्धान्त को माने बिना इन सबका यथोचित्त समाधान नहीं हो सकता। क्योंकि इस जन्म में दिखाई देने वाली विलक्षणताएं न तो वर्तमान जन्म के कार्यों का फल है, और न ही माता-पिता की कृति का, न सिर्फ परिस्थिति का है। इसके लिए पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों को मानना पड़ता है, इस प्रकार एक पूर्वजन्म सिद्ध होते ही अनेक पूर्वजन्मों की शृंखला सिद्ध हो जाती है, क्योंकि असाधारण ज्ञानशक्ति किसी एक ही जन्म के अभ्यास का फल नहीं हो सकती। गीता में भी इसका समर्थन किया गया है—

'अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो यान्ति परां गतिम्।'

अनेक जन्मों में जाकर अन्तःकरण शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त होती है, उसके पश्चात् साधक परा (मोक्ष) गति को प्राप्त कर लेता है।

बालक जन्म लेते ही माता का स्तनपान करता है, भूख-प्यास लगने पर रोता है, डरता है, अपनी मां को पहचानने लगता है, ये सब प्रवृत्तियां बिना ही सिखाए बालक को स्वतः सूझ जाती हैं, इसके पीछे पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं।

अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।

—आचारांग १।३।१

जो कर्म में से अकर्म की स्थिति में पहुँच गया है, वह तत्त्वदर्शी लोक व्यवहार को सीमा से परे हो गया है।

सव्वे सयकम्मकप्पिया

—सूत्रकृतांग १।२।६।१८

सभी प्राणी अपने कृत-कर्मों के कारण नाना योनियों में भ्रमण करते हैं।

जहा कडं कम्म, तहासि भारे।

—सूत्रकृतांग १।५।१।२६

जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका भोग।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

—उत्तराध्ययनं १३।२३

कर्म सदा कर्त्ता के पीछे-पीछे (साथ) चलते हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org